

○.....
यह अनुभव हमारी शिक्षा व्यवस्था में दलितों की स्थिति पर प्रकाश डालता है। हमारा सामान्य अनुभव और कुछ शोध बताते हैं कि आज भी स्कूलों में दलितों के साथ बराबरी का व्यवहार नहीं होता। साथ ही यह अनुभव पाठ्यपुस्तकों एवं साहित्य में दलित नजरिए के प्रतिनिधित्व के अभाव को रेखांकित करता है।

हमारी शिक्षा पद्धति और दलित

□ ओमप्रकाश वाल्मीकि

मेरी स्कूली शिक्षा का आरंभ औपचारिक शाला से नहीं हुआ। हमारे मोहल्ले में एक ईसाई आते थे। नाम था सेवक राम मसीही। वे हम बच्चों (चूहड़ों के बच्चों) को घेरकर बैठे रहते थे। पढ़ना-लिखना सिखाते थे। सरकारी स्कूलों में तो हमें कोई घुसने नहीं देता था। सेवक राम मसीही के पास सिर्फ मुझे ही भेजा गया था। भाई तो काम करते थे। बहन को स्कूल भेजने का सवाल ही नहीं था।

मास्टर सेवक राम मसीही के खुले, बिना कमरों, बिना टाट-चटाई वाले स्कूल में अक्षर ज्ञान शुरू किया था। एक दिन सेवक राम मसीही और मेरे पिताजी में कुछ खटपट हो गई थी। पिताजी मुझे लेकर बेसिक प्राइमरी विद्यालय गए थे जो कक्षा पांच तक था। वहां मास्टर हरफूल सिंह थे। उनके सामने मेरे पिताजी ने गिड़गिड़ाकर कहा था, “मास्टर, थारी मेहरबानी हो जागी जो म्हारे इस जाकत (बच्चा) कू बी दो अक्षर सिखा दोगे।”

मास्टर हरफूल ने अगले दिन आने को कहा था। पिताजी अगले रोज फिर गए। कई दिन तक स्कूल के चक्कर काटते रहे। आखिर एक रोज स्कूल में दाखिला मिल गया। उन दिनों देश को आजादी मिले आठ साल हो गए थे। गांधी जी के अछूतोद्धार की प्रतिध्वनि सुनाई पड़ती थी। सरकारी स्कूलों के द्वार अछूतों के लिए खुलने शुरू तो हो गए थे, लेकिन जन सामान्य की मानसिकता में कोई विशेष बदलाव नहीं आया था। स्कूल में दूसरों से दूर बैठना पड़ता था, वह भी जमीन पर। अपने बैठने की जगह तक आते-आते चटाई छोटी पड़ जाती थी। कभी-कभी तो एकदम पीछे दरवाजे के पास बैठना पड़ता था। जहां से बोर्ड पर लिखे अक्षर धुंधले दिखते थे।

त्यागियों के बच्चे ‘चूहड़े का’ कहकर चिढ़ाते थे। कभी-कभी बिना कारण पिटाई भी कर देते थे। एक अजीब-सी यातनापूर्ण जिंदगी थी, जिसने मुझे अंतर्मुखी और चिड़चिड़ा, तुनकमिजाजी बना दिया था। स्कूल में प्यास लगे तो हैंडपंप के पास खड़े रहकर किसी के आने का इंतजार करना पड़ता था। हैंडपंप छूने पर बवेला हो जाता था। लड़के तो पीटते ही थे। मास्टर लोग भी छूने पर सजा देते थे। तरह-तरह के हथकंडे अपनाए जाते थे ताकि मैं स्कूल छोड़कर भाग जाऊं, और मैं भी उन्हीं कामों में लग जाऊं, जिनके लिए मेरा जन्म हुआ था। उनके अनुसार, स्कूल आना मेरी अनाधिकार चेष्टा थी।

बाल साहित्य से मेरा लगाव कभी नहीं रहा। इसीलिए मैं बच्चों के लिए कुछ भी नहीं लिख पाया। शायद इसका कारण यह भी है कि बचपन में जब स्कूल जाना शुरू किया, तो घर में पढ़ाई के लिए कोई विशेष माहौल नहीं था। इसीलिए पाठ्यपुस्तकों में जो भी शामिल था, वही पढ़ना शुरू किया। बाल साहित्य के नाम पर छठी-सातवीं कक्षा में ‘हमारे पूर्वज’ जैसी पुस्तकें थीं। जिनमें पौराणिक, ऐतिहासिक पात्र थे। जब अपनी इच्छा से पुस्तकें ढूंढ-ढूंढ कर पढ़नी शुरू की तो ऐसी पुस्तकें मिली जो बाल साहित्य की श्रेणी में नहीं आती थीं। ऐसी ही एक पुस्तक पिताजी ने खरीदकर दी थी, लाल कपड़े की जिल्द में मोटे-मोटे अक्षरों में छपी गीता। पिताजी स्वयं भी नहीं जानते थे, वे क्या पुस्तक खरीद रहे हैं। लेकिन किताबों के प्रति मेरे लगाव से वे परिचित हो चुके थे। वे स्वयं निरक्षर थे, लेकिन मुझे साक्षर बनाने का जो उनका निर्णय था, उस पर हमेशा अडिग रहे थे। तमाम अवरोधों से भी वे विचलित नहीं हुए। अपनी बात के लिए लड़े और मुझे भी हिम्मत दी। क्योंकि उनके मन में था कि पढ़-लिखकर ‘जाति’ सुधारनी है (वे यह

जानते हुए भी कि 'जाति' जन्मना होती है, मृत्यु के बाद भी पीछा नहीं छोड़ती, फिर भी 'जाति' सुधारने की उनकी जिद थी।)।

'गीता' पढ़कर बालमन में जो जिज्ञासाएं पैदा हुईं और सवाल मन में उभरे, उनके उत्तर देने वाला कोई भी मेरे आसपास नहीं था। स्कूल के मास्टर्स से यदि कोई ऐसा वैसा सवाल पूछ लेने की हिमाकत कर भी दी तो कयामत आ जाती थी और मन में उठने वाले सवाल बेमौत मर जाते थे।

उसी दौरान इन्टर कॉलेज के पुस्तकालय में शरतचन्द्र, प्रेमचन्द की पुस्तकों ने जो साहित्य के प्रति रुचि जगाई और जो भी मिला पढ़ डाला। किस्सा तोता मैना, अलिफ-लैला, आल्हा-ऊदल, प्रेमसागर आदि ने मेरी इस अधूरी शिक्षा को पूरा करने की कोशिश की। बहुत बाद में पता चला कि नन्दन, चंदा मामा, शंकर वीकली जैसे पत्रिकाएं भी होती हैं, जिन्हें पढ़ना चाहिए। कॉमिक्स और परीकथाएं मुझे कभी आकर्षित नहीं कर पाईं।

स्कूल के दरवाजे खुलना मेरे लिए किसी चमत्कार से कम नहीं था, क्योंकि हमारी बस्ती के बच्चों को स्कूल में दाखिला नहीं मिलता था। उनका साक्षर होना धर्म विरोधी था। मेरे चाचा ने जो हिन्दी-उर्दू की वर्णमाला सीखी थी, वह एक ईसाई पादरी से सीखी थी। उनकी विधिवत शिक्षा नहीं हुई थी। वर्णमाला सीखकर वे उर्दू-हिन्दी की पुस्तकें पढ़ने लगे थे।

स्कूल में दाखिला लेते ही मेरी यातनाओं का जो दौर शुरू हुआ, उसे मैं अपनी आत्मकथा 'जूठन' में विस्तार से लिख चुका हूं, लेकिन इस यातनामय जीवन में भी जो कुछ मैंने सीखा, समझा, उसमें मेरी पाठ्यपुस्तकों और मेरे शिक्षकों का कोई योगदान नहीं था। यदि कोई योगदान था, तो मेरे बचपन के उन साथियों, मित्रों का जिन्होंने अनजाने में ही मेरे विकास में मदद की थी। चन्द्रपाल वर्मा, श्रवणकुमार शर्मा मेरे सबसे घनिष्ठ मित्र थे। चन्द्रपाल वर्मा ने मेरे मन से डर दूर किया और श्रवण कुमार के निश्चल प्रेम ने मुझे यह समझने में मदद की, कि दुनिया घृणा से नहीं चलती। शायद इसीलिए जातीय आधार पर मेरे मन में किसी के लिए भी कोई पूर्वाग्रह नहीं है। श्रवण कुमार के व्यवहार में बहुत ज्यादा अपनापन था, जो आज भी मेरी स्मृति में रचा-बसा है। यह मेरे जीवन का ऐसा मोड़ था जिसने मुझमें गहरा आत्मविश्वास जगाने में मदद की और शिक्षा के महत्त्व को भी मैंने जाना।

पाठ्यपुस्तकों और शिक्षकों की बजाए आपसी रिश्तों ने मुझे शिक्षित किया था। श्रवण कुमार शर्मा और मैं कक्षा 12 तक साथ रहे थे, लेकिन उसने जो विश्वास मेरे मन में जगाया था, उसी से उम्मीद बनी थी कि यदि सामाजिक जीवन घृणा से नहीं प्रेम से

चलता है। यह प्रेम और विश्वास आज भी मेरे भीतर जिन्दा है।

शिक्षकों की छवि मेरे मन में बेहद क्रूर और घोर जातिवादी संकीर्ण व्यक्ति की है, जो अतीत के गुरु-शिष्य परंपरा से मेल नहीं खाती। पुस्तकों में गुरु-शिष्य परंपरा का जो यशोगान भरा हुआ है, वह मेरे अनुभवों के विपरीत है। गुरुजनों में ऐसे अनेक थे जो द्रोणाचार्य की मुद्रा में अंगूठा काटने को तैयार रहते थे। वे ऐसा कोई अवसर नहीं चूकते थे, जब वे मुझे जातीय-दंश देकर जलील न करते हों, उपहास न उड़ाते हों। मैं उन दिनों काफी चुप्पा भी हो गया था। कक्षा में ऐसा बहुत कुछ पढ़ाया जाता था, जो मेरे लिए समझ पाना मुश्किल होता था। शिक्षक जो कह रहा होता था मेरे लिए समझ पाना मुश्किल होता था। शिक्षक जो कह रहा होता था मेरे अनुभवों में वह सब उलट होता था। संस्कृति, परंपराओं की मान्यताएं मेरे लिए अजनबी होती थीं, लेकिन मित्रों के व्यवहार और भाईचारे से मुझे इन स्थितियों से बाहर निकलने में मदद मिली थी।

'पंचतंत्र' की कहानियों का बहुत नाम सुना था। पुस्तक की एक प्रति मैंने देहरादून आ जाने के बाद खरीदी थी। लेकिन 'पंचतंत्र' की कहानियों की आदर्श नैतिकता मेरे गले ही नहीं उतरी थी। पंचतंत्र का लेखक आदर्श, नैतिकताओं के प्रति जितना संवेदनशील है, सामाजिक विषमताओं, अस्पृश्यता, भेदभाव, जातिवाद की ओर कोई संकेत तक नहीं करता। हो सकता है ये समस्याएं सामाजिक रूप से मान्य मान ली गई हों। यह भी हो सकता है लेखक को इन समस्याओं से कोई सरोकार ही न हो। जैसा समकालीन साहित्य में भी देखने को मिलता है। ऐसे अनेक विद्वान लेखक, कवि, आलोचक हैं जिन्हें ये समस्याएं गैर जरूरी लगती हैं। यही स्थिति पंचतंत्र की कहानियों में भी मौजूद है। सामाजिक जीवन के कलुषित अध्याय को रेखांकित कर, अस्पृश्यता, विषमता जैसी समाज विरोधी मान्यताओं और नैतिकता से उत्पन्न जड़ता को ध्वस्त कर देने वाली कोई कहानी वहां दिखाई नहीं पड़ती। इसीलिए पंचतंत्र की कहानियां एक पक्षीय ही हैं, जो सनातनी पारंपरिक मूल्यों को आधार देने के लिए लिखी गई हैं।

स्वेट मार्टन की छोटी-छोटी पुस्तकों ने मुझे मेरे हीनताबोध से मुक्त होने में बहुत बड़ी भूमिका निभाई। इन पुस्तकों ने मेरा आत्मविश्वास जगाया और आंतरिक शक्ति दी। शिक्षा का यह रूप मेरे लिए सार्थक और गुणात्मक रहा। इसलिए ये पुस्तकें मेरे लिए पाठ्यपुस्तकों से ज्यादा अहमियत रखती हैं।

स्कूली जीवन के मेरे अनुभवों में ऐसे अनेक चित्र हैं, जिन्होंने मेरे मन में गहरी खरोंचे डालीं। समूचा परिदृश्य झूठ और खोखले आदर्शों पर टिका दिखाई देता है, ऐसे ही अनुभवों की मेरी एक कहानी

है - 'पच्चीस चौका डेढ़ सौ' जहां सब कुछ झूठ पर टिका है।

यही स्थिति 'पंचायत' की है। जहां पंचों के फैसले को परमेश्वर का फैसला कहा जाता है, लेकिन उनके फैसलों में 'जाति' विशेष महत्ता रखती है। समाज में समरसता पैदा करने के नाम पर दलितों को बलि चढ़ना पड़ता है। जबकि पाठ्यपुस्तकें, हिन्दी साहित्य 'पंचायतों' के यशोगान में लगी हैं। समाज के ये दोहरे मापदंड बहुत ही अमानवीय हैं। जिन्हें गोहाना कांड ने और ज्यादा गहरा कर दिया है।

पाठ्यक्रमों में शामिल कहानियों के संदर्भ त्याग, बलिदान, परंपराओं की जकड़न, संस्कृति और अतीत गौरव आदि मूल्यों को स्थापित करती हैं। समता, भाई-चारा, बन्धुता, धर्म-निरपेक्षता, स्वतंत्रता, स्त्री की स्वतंत्रता, जातिवाद विरोध जैसे मानवीय मूल्यों को इनमें दरकिनार कर दिया जाता है।

मैंने प्राइमरी कक्षा-1 से बारहवीं तक की शिक्षा गांव बरला के प्राइमरी बेसिक स्कूल तथा त्यागी इन्टर कॉलेज, बरला (नया नाम बरला इन्टर कॉलेज, बरला) से हासिल की। वहां सभी शिक्षक त्यागी थे, जिनसे कभी खुलकर संवाद नहीं होता था। जब भी ऐसा करने की कोशिश की तो गालियां सुननी पड़ती थीं। परीक्षाओं में कम अंक देना तो जैसे उनका स्वाभाविक अधिकार था। बारहवीं की बोर्ड परीक्षा के रसायनशास्त्र, प्रयोगिक परीक्षा में फेल करा देना इस प्रक्रिया का हिस्सा था। यह ऐसा अवरोधक था कि जिसने मेरे जीवन की धारा ही बदल दी थी। जब भी किसी शिक्षक से कोई सवाल पूछ लेने की यदि कोशिश की तो हथौड़े की तरह एक संवाद सिर पर मारा जाता था - 'चूहड़े का बामन बनने चला है' ये संवाद आज भी मेरा पीछा करता है। सेमिनारों, संगोष्ठियों, व्याख्यानो के बाद किसी न किसी रूप में सुनने को मिल ही जाता है - 'लो अब हमें इनसे सीखना पड़ेगा या इनसे यह सब सुनना पड़ेगा ...' आदि-आदि। एक कॉलेज प्रिंसिपल ने कार्यक्रम के बाद अपनी मित्र मंडली में जब ऐसे वाक्य कहे, तो उनके कुछ अंश छनकर मुझ तक भी आ गए थे, जो सीधे नशतर की तरह मुझे बीध गए थे। क्या शिक्षा के ये अहंकारी अलमबरदार इसी तरह समाज में एक पक्षीय समरसता बनाकर स्वयं को आत्मतुष्ट करते रहेंगे ? क्या शिक्षा इसी तरह के संकीर्ण घेरे में कैद रहेगी ? क्या कभी समग्र विकास के प्रति संजीदगी से सोचा जाएगा ? क्या बाल मनोविज्ञान के आधार पर हम बच्चों के नजरिए को समझने की दिशा में कोई सार्थक और बहुपक्षीय कदम उठा पाएंगे ?

शिक्षा-पद्धति में जो दोष है और उसकी जड़ें कहा हैं, यह भी जानना होगा, क्योंकि राष्ट्रप्रेम, नैतिकता, आदर्श, राष्ट्रीय

एकता, अनेकता में एकता, अतीत गौरव गान जैसे तत्वों के भरोसे कितने दिन चला पाएंगे। सांस्कृतिक उत्थान की आड़ में सामंती और अलोकतांत्रिक शैली में यह शिक्षा-पद्धति बालमन को जड़ बना देती है। उनके मन में उठने वाले सवाल की संभावनाएं खत्म कर देती हैं। सवाल पूछना बच्चों का मौलिक और स्वाभाविक अधिकार है, उनके उत्तर उन्हें देना उनकी नैतिक जिम्मेदारी है। बच्चों को उपदेश देना और स्वयं उन उपदेशों के उलट जीना, ऐसी सच्चाई है, जो पूरे समाज में व्याप्त है। बच्चों को प्रारंभ से ही दोहरे मापदंडों में जीने के संस्कार घरों में ही दे दिए जाते हैं। ठीक वैसे ही जैसे 'जाति' में विश्वास रखने के संस्कार बचपन से ही उनके भीतर भर दिए जाते हैं।

बचपन में एक कहानी पढ़ी थी, जिसमें 'पन्नाधाय' राजपुत्र को बचाती है। इस कहानी को पढ़कर मेरे मन में कई प्रकार के सवाल उठे थे। यह कहानी भी एक नौकर की मालिक के प्रति वफादारी और बलिदान को ही स्थापित करती है, लेकिन क्या किसी मालिक ने अपने नौकर के प्रति भी ऐसा ही किया ? क्या वफादारी एक तरफा ही होती है ? क्या किसी पुस्तक में ऐसी कहानी भी है जो सेवक के पसीने का आदर करके 'श्रम हलाली' का हक अदा करे। ऐसी स्थापना करने वाली कहानियां क्यों नहीं हैं जो वफादारी 'पन्नाधाय' निभाती है, वह किसके हक में जाती है ? इस पर कभी विचार ही नहीं किया गया। आज भी दलित की मांग के आगे कभी राष्ट्रीय एकता, कभी सामाजिक समरसता, कभी धर्म खतरे में पड़ जाता है। हमेशा संस्कृति के नाम पर बलिदान दलित ही को देना पड़ता है। जब वह अपने लिए कुछ मांगने की कोशिश करता है, तो उस पर अलगाववाद, विखण्डन करने, अंग्रेजों का मोहरा बनने या रुपये-पैसे के लालच में धर्म परिवर्तन करने के आरोप लगते हैं। लेकिन किसी ने उसके पक्ष को और उसकी तकलीफों को जानने, उसके जीवन को समझने का प्रयास किया। उन्हें अयोग्य, मूर्ख, असभ्य कहने में किसी को शर्म नहीं आती है (संदर्भ के लिए देखिए आरक्षण विरोधियों के तर्क जो योग्यताओं, प्रतिभाओं की बात करते हैं) यानी त्याग, बलिदान सिखाने वाली पुस्तकें, पाठ, कहानियां, सब एक पक्षीय, गढ़ी हुई, सोची-समझी मनोवृत्ति के तहत पाठ्यक्रमों में दूँसी गई हैं।

ये तमाम सवाल मेरे जेहन में हमेशा उठते रहे हैं, जब भी पाठ्यक्रमों में शामिल रचनाओं को पढ़ा। ♦

सी-5/2, ऑर्डिनेंस फैक्ट्री एस्टेट, देहरादून - 248008 उत्तरांचल